बद्रीप्रसाद पंचोली
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा

स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व पर आधारित गणतंत्र को आधुनिक संसार ने सबसे अधिक विकसित तथा जनकल्याणकारी व्यवस्था घोषित किया है. इस प्रकार की व्यवस्था का परीक्षण प्राचीन भारत में हो चुका है. वर्द्धमान महावीर और भगवान् बुद्ध के समय भारत में अनेक गणराज्य थे. जिनके विषय में जैन और बौद्ध साहित्य से पर्याप्त सूचना मिलती है. अवदानशतक में गणाधीन व राजाधीनराज्यों का उल्लेख मिलता है.[१] आचारांगसूत्र में भी राजारहित गणशासित राज्यों का उल्लेख मिलता है.[२] इसी काल की अन्य रचना पाणिनीय अष्टाध्यायी भी गणशासन के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना देती है. महाभारत में गणराज्यों को नष्ट करने वाले पारस्परिक फूट आदि दोषों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है.[३] सारे भारतीय साहित्य में प्राप्त इसी तरह के उल्लेखों का अध्ययन करने से गणराज्यों की एक सुदृढ़ व विकसित परम्परा का पता चलता है जिसको महावीर स्वामी व महात्मा बुद्ध की महत्त्वपूर्ण देन है.

आर्यजाति के प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थों से गणजीवन के विकास के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है. ऋग्वेद में गण,[४] गणपति[५] आदि ही नहीं, जनराज्ञ[६] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है. सांमनस्य सूक्त[७] में स्वतंत्र सहजीवन के विकास की ओर संकेत किया गया है जिसे विश्वव्यवस्था का आधार बनाया जा सकता है. स्वराज्य सूक्त से[८] प्रजातांत्रिक व्यवस्था के विषय में व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है. इस सूक्त के ऋषि राहुगण गोतम हैं. ऋषिवाची शब्द सदैव ही वैदिकमंत्रों के अर्थज्ञान की कुंजी होता है. राहुगण गोतम नाम भी इसी तरह इस सूक्त के अर्थ पर प्रकाश डालता है. रह (त्याग करना) धातु से 'रहु' शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है त्यागी, दानी. आत्मत्यागियों में श्रेष्ठ गिने जाने वाले व्यक्तियों का गण या समूह (राहुगण) ही स्वराज्य का निर्माण कर सकता है. यही नहीं, स्वराज्य के निर्माता गौतम-वेदज्ञों में श्रेष्ठ भी होते हैं.

यजुर्वेद में न केवल राष्ट्र के जागरूक व आदर्श नागरिक बनने की भावना[९] के ही दर्शन होते हैं, वरन् प्रजातंत्र को शत्रुनाशक भी कहा गया है—

---

१. केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः —अवदानशतक २।१०३.
२. आचारांग सूत्र १।३।१६०.
३. महाभारत-शान्ति पर्व- राजधर्मप्रकरण.
४. ऋग्वेद १।८७।४, ३।३५।६, ५।६१।१३, ७।५८।१, २.२३।१ आदि.
५. ऋग्वेद २।२३।१, १०।११२।६.
६. ऋग्वेद १।५३।६.
७. ऋग्वेद १०।६१.
८. ऋग्वेद १।८०.
९. वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहिताः—यजुर्वेद ९।२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडसि अभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडसि अमित्रहा.[1]

अथर्ववेद में शासक के वरण व अभिषेक समय की मर्यादाओं का उल्लेख मिलता है. ब्रह्मगवी[2] व ब्रह्मजाया[3] के नाम से राज्य की आध्यात्मिक शक्तियों का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हें प्रजा की सामूहिक भावनायें राज्य में निक्षिप्त करती हैं. पृथिवीसूक्त में सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ और बृहत् राष्ट्र के आधारभूत तत्त्व कहा गया है.[4] वैदिक राज्य-व्यवस्था का वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, केवल इतना स्वीकार किया जा सकता है कि गणव्यवस्था का आदर्श भी भारतीयों को वेदों से मिला है.

ऋग्वेद में दो प्रकार के गणों का वर्णन मिलता है. जिनमें एक है ऋभुओं का गण और दूसरा मरुतों का गण. प्रथम सारस्वतगण (Educational Republics) है और दूसरा सैनिक गण. मरुत् देवताओं में वैश्यवर्ण के कहे गये हैं अत : इनका गण सैनिक गण होते हुए भी कृषि व गोपालन की समृद्धि पर निर्भर कहा जा सकता है. ये दोनों प्रकार के देवगण भारतीय गणराज्यों के प्रेरणास्रोत कहे जा सकते हैं.

ऋभुगण सुन्धवा के पुत्र[5] ऋभु, विभु और वाज का है. इनका विस्तृत विवेचन स्वतंत्र निबन्ध का विषय है. इस विषय में ज्ञातव्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—'ऋभु पहले मनुष्य थे बाद को ऋत का आश्रय लेकर उन्होंने देवत्व प्राप्त किया.[6] ऋत की साधना ऋभुगण का आदर्श है.[7] देवत्व सदा से मनुष्यों का लक्ष्य रहा है. ऋभुओं ने ऋतसाधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था. ऋत की साधना के लिये त्रैत-भावना आवश्यक है. साधक, सिद्ध व साध्य का त्रैत प्राचीन ग्रंथों में अनेक प्रकार से उल्लिखित है. ऋभुत्रयी में वाज है साधक, विभु सिद्ध और ऋभुत्व साध्य. शिक्षणव्यवस्था में वाज का सम्बन्ध विद्यार्थी से है. विद्यार्जन वाजपेय (वाज को पेय बनाना या पीना) यज्ञ तथा विद्याप्राप्त स्नातक को वाजपेयी कहा जाता है. विभु गुरु है और ऋभुत्व प्राप्त करने वाला ऋभु कहा जाता है. विद्यार्जन की प्रक्रिया को नेम (अधूरे ज्ञान वाला) का भार्गव (तेजस्वी, ज्ञानसम्पन्न) हो जाना भी कहा जा सकता है. इस विषय में नेमभार्गवऋषिदृष्ट ऋग्वेद का सूक्त[8] विचारणीय है. सामूहिक दृष्टि से वाज, विभु और ऋभु का एक गण बनता है. ऋभुगण द्वारा सर्वदुघा गौ का निर्माण,[9] एक चमस के चार चमस कर देना[10] आदि बातों को यहाँ अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया जाता है.

ऋभुवों के गण के आदर्श पर ऋत की साधना के केन्द्र शिक्षा-आश्रमों का विकास हुआ था जिन्हें सारस्वतगणराज्य[11] कहा जा सकता है. सिकन्दर के समय कठों का गण वार्ताकृषि-उपजीवी संघ था. युद्धकाल में सिकन्दर का सामना करने के लिये यह आयुधजीवीसंघ बन गया था । इसका प्रारम्भ सारस्वत गण के रूप में हुआ था जिसमें यजुर्वेद की काठकसंहिता का प्रवचन होता था. काठकसंहिता व कठोपनिषद् इस गण की चिन्तनपरम्परा के अवशेष हैं. नैमिषारण्य के ऋषिगण की स्मृति धार्मिक कथाओं में बनी हुई है. बादरायण व्यास के विशाल पुराण-साहित्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय इसी गण को हैं, जिसके ८८हजार ऋषि आरण्यकजीवन बिताते हुए साहित्य व धर्म की चर्चा में समय बिताया करते थे. प्राप्य प्राचीन

१. यजुर्वेद ५।२४.
२. अथर्ववेद ५।१८.
३. अथर्ववेद ५।१७.
४. अथर्ववेद १२।१।१.
५. ऋग्वेद ४।३५।१.
६. ऋग्वेद ३।६०।३, ३।६०।१, ४।३५।८, ४।३३।३, ४।३५।३, १।११०।४.
७. ऋतेन भान्ति इति ऋभवः—यास्क, निरुक्त ११।२।३, ऋग्वेद ४।३४।२.
८. ऋग्वेद ८।१००
९. ऋग्वेद ४।३३।८, ४।३४।९, ४।३६।४.
१०. ऋग्वेद ४।३५।२,५, ४।३६।४.
११. सारस्वत गणराज्यों के लिये द्रष्टव्य लेखक का 'प्राचीन भारत के सारस्वत गणतंत्र' नामक निबन्ध 'त्रिपथगा वर्ष ७ अंक ११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय साहित्य का रक्षण भी ऐसे ही गणों में हुआ है. दक्षिण में 'संघमु' परम्परा द्वारा तमिल साहित्य की अभिवृद्धि हुई है. ये भी सारस्वतगण ही कहे जा सकते हैं. राज्य के आवश्यक अंग प्रभुसत्ता, संभूयभावना (Civic Sense) और तंत्र (व्यवस्था) के दर्शन इन शैक्षणिक संस्थाओं में होते हैं. इसीलिए इन्हें गणराज्य कहना उपयुक्त है.

तक्षशिला, नालन्दा आदि प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र भी गणतांत्रिक आदर्श पर संघटित हुए थे. भारत के पश्चिमी द्वार की अर्गला खोल कर आक्रान्ता सिकन्दर का स्वागत करने वाला आम्भीक तक्षशिला के विद्रोही आचार्य चाणक्य या चन्द्रगुप्तादि छात्रों को, जो प्रत्यक्ष रूप में गान्धारनरेश की नीति का विरोध कर रहे थे, पकड़ नहीं सकता था. दुष्यन्त वैखानसों से यह सूचना मिलने पर—'आश्रममृगोऽयं राजन् ! न हन्तव्यो न हन्तव्यः', आखेट से उपरत होकर आश्रम की प्रभुसत्ता के सम्मान में रथ से उतर गया था. राज्यों में राजा स्वयं विद्वत्सभाओं की योजना करते थे जिन्हें प्रभुसत्ता के अभाव के कारण स्वायत्तसंस्था ही कहा जा सकता है, गणराज्य नहीं.

ऋग्वेद में मरुतों के देवगण का विस्तार से उल्लेख मिलता है. मरुतों की संख्या ४९ है. यजुर्वेद में इनके नाम भी मिलते हैं[१] ये सब एक ही पिता रुद्र के पुत्र हैं[२] गाएँ इनकी प्रभूत समृद्धि की द्योतक हैं. अतः इनको 'पृश्निमातरः'[३] या गोमातरः[४] विशेषण भी दिये गए हैं. ये सब भाई हैं, न इनमें कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ.[५] ये सब समान विचार वाले हैं[६] और एक ही तरह से इनका पोषण हुआ है.[७] इनकी पैतृकपरम्परा [योनि] व नीड भी समान हैं.[८] वे उत्तम पत्नियों वाले (भद्र-जानयः)[९] हैं, प्रतिभाशाली हैं स्वयंदीप्त हैं, रथों पर चलते हैं[१०] अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं[११]और बच्चों की तरह क्रीडालु[१२] हैं, मरुतों का एक अन्य विशेषण सिन्धुमातरः[१३] है.

मरुतों का कार्य वही है जो देवराज इन्द्र, अग्रणी अग्नि या सम्राट् वरुण का है. मरुतों के कार्य इन्द्रिय [इन्द्र के][१४] व इन्द्र के कार्य मरुतों के [मरुत्वती][१५] कहे गए हैं. मरुत् दिव्यगायक हैं[१६] अपने गान द्वारा ही वे पर्वतों का भेदन करते हैं[१७] और इन्द्र की शत्रुविजय की सामर्थ्य बढ़ा देते हैं.[१८] पुराणों से पता चलता है कि इन्द्र और मरुत् एक दूसरे के विरोधी भी रहे हैं. ऋग्वेद के एक मंत्र से[१९] इस वैमनस्य की सूचना मिलती है. तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मरुतों

---

१. यजुर्वेद १७।८०-८५.
२. ऋग्वेद ८। २०।२, ५।५७।१, ५।५२।१६, ५।६०।५.
३. ऋग्वेद ५।५७। २, ३।५९।६, १।८५।२, १।२३।१०, ८९।७, ८।७।३, ९।३४।५.
४. ऋग्वेद १।८५।३,
५. ऋग्वेद ५।५९।६, ५।६०।५.
६. ऋग्वेद ८।२०।१.
७. ऋग्वेद ७।५८।१.
८. ऋग्वेद १।१६५।१, ७।५६।१.
९. ऋग्वेद ५।६१।४.
१०. ऋग्वेद १।८८।१, ५।५७।१,
११. ऋग्वेद ५।५८।२, १।१६७।९.
१२. ऋग्वेद १।१६६।२, ७।५६।१६.
१३. ऋग्वेद १०।७८।६.
१४. ऋग्वेद १।८५।२.
१५. ऋग्वेद १।८०।४.
१६. ऋग्वेद ५।६०।८, ७।३५।९, ५।५७।५.
१७. ऋग्वेद १। ८५।१०.
१८. ऋग्वेद ५।३०।६, १।८५।२, ५।२९।२, १।२६५।११, १।१००।१०.
१९. ऋग्वेद १।१७०।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने इन्द्र का साथ छोड़ दिया था,[1] परन्तु इन्द्र को ऋग्वेद में प्रधान माना गया है.[2] वह सम्माननीय है और मरुद्गण उसके पुत्र के समान हैं.[3]

मरुतों के देवगण के संक्षिप्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) समान कुल-परम्परा, पैतृक संबंध आदि के द्वारा गण में एकता बनी रह सकती है.

(२) सबको एक सूत्र में बांधने वाली वस्तु धन-समृद्धि है. द्रव्यादि का समान वितरण, पशुधन के प्रति पूज्यभाव एकता के अन्य कारण हैं.

(३) मातृभूमि का प्रेम एकता को जन्म देता है. मरुत एक ही सिन्धु-सिंचित भूमि की सन्तान (सिन्धुमातरः[4]) कहे गए हैं.

(४) गणप्रमुखों तथा गणसदस्यों में कोई बड़ा-छोटा नहीं होता, उनमें विचार वैभिन्य नहीं होता, सबको सन्तति के विकास के समान साधन उपलब्ध होते हैं.

(५) गणसदस्यों की पत्नियाँ उत्तम व सहकर्मिणी होती हैं. क्रीड़ा, उत्सव आदि की सम्यक् व्यवस्था भी एकता का कारण है.

(६) राजा के होते हुए भी गणों की सत्ता रह सकती है. वे अपनी शक्ति व एकता के स्वर से राजा की सामर्थ्य को शतगुणित कर दिया करते हैं. महामात्य चाणक्य ने संघलाभ को राजा के लिये सर्वोत्तम लाभ माना है.[5]

(७) गणों से सम्राट् का वैमनस्य भी हो सकता है, परन्तु गण राजा के पुत्र के समान हैं. राजा को उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए.

भारत में गणों का विकास इन्हीं मान्यताओं को लेकर हुआ था. महाभारतयुद्ध के पहले तक भारत में गणराज्य व राजतंत्र साथ-साथ पनप रहे थे. उग्रसेन के राज्य में अन्धक व वृष्णि गणराज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे. भारत में धर्म को सर्वोपरि माना गया है जिसके प्रति राजा व गण दोनों ही उत्तरदायी हैं. इस प्रकार यहाँ न राजा ही निरंकुश थे और न गणतंत्र ही. राजा धर्म और प्रजा के प्रति इस सीमा तक उत्तरदायी था कि उसे सबसे अधिक पराधीन व्यक्ति कहा जा सकता है. इसी तरह गणतंत्र इतने स्वतंत्र थे कि वह स्वतंत्रता ही बन्धन बन कर उन्हें संयत बना दिया करती थी.

महाभारत युद्ध के बाद भारत में जिस युग का प्रारंभ हुआ, उसमें संघशक्ति की प्रधानता (संघे शक्तिः कलौ युगे) स्वीकार की गई है. सच तो यह है कि भारत का कलियुग का ५ हजार वर्षों का इतिहास संघशक्ति के उत्थान, पतन व पुनरुत्थान का इतिहास कहा जा सकता है. प्रबल व समर्थ राज्यों के विकास के बाद गणजीवन की ओर अभिरुचि का एक कारण महाभारत के भीषण युद्ध में भारत के प्रतिष्ठित राजपरिवारों का नष्ट हो जाना भी है. इसके पहले भी राजतंत्र के साथ पनपने वाले गणतंत्रों के पास राज्य के पारिभाषिक सभी अधिकार थे, परन्तु महाभारत के बाद ये गणसंस्थाएँ राज्य के स्थानापन्न होकर विकसित हुईं और उनकी सुव्यवस्था व सामर्थ्य का प्रमाण इस बात से मिलता है कि महाभारतपूर्व भारत पर आक्रमण करने वाले कालयवन के बाद सिकन्दर के समय तक भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस कोई विदेशी आक्रान्ता न कर सका.

---

१. तैत्तिरीयब्राह्मण २।७।११।१.
२. ऋग्वेद १।२३।८.
३. ऋग्वेद १।१००।५.
४. ऋग्वेद १०।७८।६.
५. कौटिलीय अर्थशास्त्र ११।१।१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन और बौद्ध साहित्य में पूर्व के कुछ गणराज्यों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है. शेष सारे भारत में फैले हुए गणराज्यों और उनके कार्यों के प्रति भारतीय साहित्य मौन है. केवल कहीं-कहीं उनके नाम मात्र मिल जाते हैं. महाभाष्य में एक स्थान पर क्षुद्रकों की महत्त्वपूर्ण विजय की ओर[१] महर्षि पतंजलि ने संकेत किया है. संभवतः यह विजय क्षुद्रकमालवों की संयुक्त सेना ने सिकन्दर पर प्राप्त की हो जिसका उल्लेख कुछ इतिहासकारों ने[२] किया है.

आरट्ट (वाहीक), क्षुद्रक, मालव, वाटधान, आभीर, अपरीती (अफरीदी), चर्मखण्डिक (समरकन्द), कठ, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, ब्राह्मण-राज्य, मद्र, तुषार, दर्द, पक्थ, हारहूण, शक, केकय, दशमानिक (दशनामी), काम्बोज, दशेरक, उलूत, तोमर, हंसमार्ग, शिवि, वसाति, उरसा, अम्बष्ठ, यौधेय, मल्ल, शाक्य, लिच्छिवि आदि उत्तरी भारत के प्राचीन गणराज्यों के नाम हैं. वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय इनमें से कई गणराज्य बड़े ही प्रबल थे, परन्तु सामान्यतया यह काल गणराज्यों के ह्रास का था. जनपदों में राजतन्त्र शक्तिमान् हो रहे थे. मगध के राज्य से आतंकित होकर उसके सीमावर्ती कई गणराज्यों ने मिल कर वज्जिसंघ की स्थापना की थी जिसकी राजधानी वैशाली थी. इस संघ की प्रबलता का प्रमाण यह है कि तत्कालीन राजा संघ के विभिन्न गणों में विवाह करके उनकी मित्रता के आकांक्षी थे. वत्सराज उदयन वैदेहिपुत्र कहा गया है. बिम्बसार की रानी वासवी भी विदेहकुमारी थी. शाक्य शुद्धोदन की माया और महामाया नामक स्त्रियाँ लिच्छिवि थीं. कोशलराज प्रसेनजित की पत्नी शाक्य कन्या थी.

महात्मा बुद्ध ने लिच्छिवियों के चरित्रबल, पारस्परिक-सम्मानभाव, भ्रातृत्व, शालीनता, शक्तिमत्ता, धर्मपरिपालन, निर्विलासिता, निरलसता आदि गुणों की प्रभूत प्रशंसा की है. परन्तु सारे गण ऐसे नहीं थे, उनमें गणसदस्यों में मिथ्याभिमान, जातीयगुरुता की भावना, विलासिता, आलस्य, चरित्रहीनता आदि दुर्गुण समाविष्ट हो रहे थे. यही कारण था कि एक एक करके समस्त गणराज्य समाप्त हो रहे थे.

महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी ने जिन नैतिक आन्दोलनों का समारम्भ किया, वे मानवमाव के लिये थे. अतएव उनके लिये गणजीवन ही उत्तम माना जा सकता था. इन दोनों ही महापुरुषों ने एक ओर तो गणों के दुर्गुणों की निन्दा की है और दूसरी ओर अपने संघों की स्थापना करके आध्यात्मिक गणराज्य-परम्परा की नींव डाली है. आध्यात्मिक-गणराज्य-परम्परा के प्रवर्तक के रूप में बुद्ध व महावीर का योगदान मौलिक व युगान्तरकारी रहा है.

वर्द्धमान महावीर कश्यप गोत्रीय ज्ञातृक क्षत्रिय कुल के थे.[३] उन्हें 'सर्वोच्चजिन महावीर ज्ञातपुत्र'[४] कहा गया है. ज्ञातृक वज्जिसंघ के अष्टकुलों (अट्ठकुल) में प्रमुख गिने जाते थे. इनकी माता लिच्छिवि वंश की थी. महावीर को संघपरम्परा का ज्ञान अपने परिवार में ही हो गया होगा. अतः कठोर तपस्या के बाद अर्हत्त्व प्राप्त करके उन्होंने अपने अनुयायियों को 'संघ' के रूप से प्रबोधित किया. अतएव उनको बुद्ध के समय में ही संघी, गणी, गणाचार्य आदि नामों से अभिहित किया जाता था.[५] कदाचित् प्रारम्भ में ऐसे धर्मसंघों का विरोध हुआ हो, धम्मपद से इस प्रकार की सूचना मिलती है.

अर्हतां शासनं यस्तु आर्याणां धर्मजोविनाम्,
प्रतिक्रोशति दुर्मेधाः दृष्टिं निश्चित्य पापिकाम् ।[६]

वैदिक समाज की नींव श्रम-यज्ञ पर आधारित है, जिसका रूप आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित हुआ. श्रम को

---

१. एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्. अष्टाध्यायी सूत्र ५।३।५२ पर पातंजलमहाभाष्य.
२. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २८४-८५.
३. प्राचीन पुस्तक माला २२।२६६.
४. सूत्रकृतांग सूत्र १।१। १।२७.
५. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता २३२,
६. धम्मपद १२.८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्रपद का साधक माना गया है.[१] जिसके बिना देवता भी सहायता नहीं करते.[२] उसकी गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियों और राज्य, धर्म और कर्म जैसी पार्थिव शक्तियों के साथ की गई है.[३] आश्रमव्यवस्था का ह्रास होने पर श्रम को जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये श्रमणवाद का उदय हुआ.

व्यावहारिक जीवन में श्रम मानवतावाद के विकास में सहायक होता है. व्यावहारिक जीवन की इस श्रम-साधना को जैन ग्रन्थों में तप का मार्ग[४] कहा गया है. यही श्रमसाधना सूक्ष्म शरीर में जागृत होकर मोक्ष साधिका बनती है.

भगवान् महावीर ने अपने संघ के चार वर्ग नियत किये थे—मुनि, आर्यिकागण, श्रावक तथा श्राविकाएँ, इनमें अन्तिम दो में जैन शासन के अनुयायी ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष गिने जाते हैं जो केवल व्यावहारिक जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा के अनुरागी हों. प्रथम दो, वे हैं जो वीतरागजीवन ग्रहण करके श्रम के व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा 'शम' में करें. महावीर की तरह बुद्ध का ध्येय भी 'श्रम' की प्रतिष्ठा 'शम' में करना ही रहा है.

शमयिता हि पापानां श्रमण इति कथ्यते.[५]

श्रम को शम से भिन्न मान कर जीवन-यापन करने वाले लोगों को महावीर ने 'मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमण'[६] कहा है.

श्रम के प्रति बुद्ध और महावीर का यह दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियों में नितान्त दूरदर्शितापूर्ण था. उस समय भारतवर्ष में गणव्यवस्था का पतन हो रहा था और भारत के पड़ोस में फारस में विशाल साम्राज्य जन्म ले रहा था. किसी भी क्षण साम्राज्यवादी दृष्टि सम्पूर्ण भारत को आत्मसात् कर सकती थी. केन्द्रीय शक्ति के अभाव में पारस्परिक फूट, विलासिता और आलस्य से जर्जरित गण अपनी रक्षा में समर्थ नहीं हो सकते थे. अतः समाज के कल्याण को अपनी दायाद्य मानने वाले ब्राह्मण बिखरी हुई शक्तियों को राजतन्त्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयत्न करने लगे और दूसरी ओर श्रमण (श्रमजीवी) श्रम को ही तन्त्र (व्यवस्था) का आधार मान कर गणभक्ति छोड़ न सके.

ब्राह्मण 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' का उद्घोष करते हुए स्वयं स्वतन्त्र रहकर केवल 'विश्' (साधारण प्रजा) के लिये राजा की व्यवस्था देते थे. अतः नितान्त स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगों को इसमें ब्राह्मणों की स्वार्थसिद्धि दिखाई दी और इस प्रकार दोनों विचारधाराओं के अनुयायियों के बीच भी खाई बढ़ती गई. यह श्रमण-ब्राह्मणों का शाश्वत विरोध विदेशी[७] आक्रान्ताओं को निमंत्रित कर सकता था. सचमुच ही एक बार फारसी साम्राज्य की सीमा सिन्धु तक आ पहुँची थी.

बुद्ध और महावीर दोनों ने ही इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया. उन्होंने श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को अभिन्न माना है. महावीर ने कहा है :

'जो ऐसे दान्त, मोक्षयोग्य और कायाव्युत्सृष्ट (ममतात्यागी) हैं, उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ भी कह सकते है.[८]

इस प्रकार इन दोनों ही युगदर्शी महापुरुषों ने सामाजिक क्षेत्र में श्रम के प्रति जिस नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित किया वह राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था.

---

१. ऋग्वेद ३।६०।२, १।११०।३, ३।६०।३, १।११०।४.
२. ऋग्वेद ४।३४।४.
३. अथर्ववेद ११।९।१७, ८।९।६.
४. उत्तराध्ययनसूत्र—अध्याय १३.
५. धम्मपद २०।१०.
६. सूत्रकृतांगसूत्र १।११।३६.
७. येषां विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम्. पातंजल महाभाष्य २।४।९.
८. सूत्रकृतांगसूत्र १।११।३६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक प्रतीक-यज्ञ इस समय निरर्थक क्रियाकलाप मात्र रह गए थे. उनकी सामाजिक उपयोगिता नगण्यप्राय थी. जिस प्रकार के यज्ञ की जीवनप्रतिष्ठा वांछित थी वह महावीर के शब्दों में इस प्रकार है :

'तप आग है, जीव ज्योतिस्थान (वेदी) है, योग स्रुवा है, शरीर सूखा गोबर है (कारिसंग), कर्म ईंधन है, संयम की प्रवृत्ति शान्तिपाठ है. ऐसा होम मैं करता हूँ. ऋषियों के लिये यही होम प्रशस्त है.[1]

इस नवीन जीवन-दर्शन और नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर महावीर ने अपने अनुयायियों को संगठित किया. श्रम, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, समान महत्त्व रखता है इसलिए उसके आधार पर समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना को उन्होंने त्याज्य ठहराया. उन्होंने कहा—"ण वि देहो वन्दिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइ-संजुत्तो[2]—अर्थात् देह वन्दनीय नहीं होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते."

पारस्परिक साम्य पर आधारित महावीर का संघ गणपरम्परा पर आधारित था. बौद्ध पिटकों में बौद्धसंघ की सभा व उसकी कार्यप्रणाली का स्वरूप देखा जा सकता है. ठीक उसी तरह ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा द्वारा सम्मति-ग्रहण, छन्दग्रहण आदि का निर्वाह जैनसंघ की सभाओं में भी होता था. बौद्धसंघ में स्थविर व स्थविराएँ ही भाग ले सकते थे, परन्तु जैन संघ में मुनि व आर्यिकाओं के अतिरिक्त सद्गृहस्थदम्पती भी भाग ले सकते थे. अतः इसे अधिक उदार-भावना पर संगठित कहा जा सकता है. बौद्धसंघ के भारत से लुप्त हो जाने पर भी जैनसंघ के बने रहने का कारण उसका सार्वजनिक ग्राह्य रूप ही है.

इस संघ की स्थापना में भगवान् महावीर के दो उद्देश्य थे. पहला-समकालीन गणतंत्रों के समक्ष श्रम की प्रतिष्ठा पर आधारित आध्यात्मिक गणराज्य का स्वरूप उपस्थित करना, तथा दूसरा श्रमण-ब्राह्मण-भेद को दूर कर, श्रम का पर्यवसान 'शम' में करने की प्रेरणा देकर मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रसार करना.

संघ को जैन लोगों ने गुणों का क्रीड़ासदन,[3] परास्फूर्तिप्रदान करने वाला[4] तथा पापहारी[5] कहा है. इससे प्रकट है कि जैनसमाज में भी संघभावना का महत्त्व बौद्धसमाज से कम नहीं था. प्राचीन भारत के गणतंत्रों का विकास क्षेत्रीय सुविधाओं पर आधारित था, परन्तु महावीर स्वामी द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य में सम्पूर्ण भारत को ही नहीं, मानव मात्र को संगठित करने की संभावना विद्यमान थी. अतः अपने समय में यह युगान्तरकारी प्रयत्न था.

समकालीन गणराज्यों ने महावीर की आध्यात्मिक गणराज्य सम्बन्धी विचारधारा को अपना लिया. लिच्छिवियों का तो यह राजपोषित धर्म[6] बन गया. लिच्छिवियों में सबसे अधिक प्रभावशाली चेटक महावीर के मामा थे. चेटक की पुत्री चेल्लना बिम्बसार को, प्रभावती सिन्धु सौवीर के राजा उदायण को,[7] पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को, मृगावती कौशाम्बी के शतानीक को, शिवा अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत को ब्याही गई थीं. इन सम्बन्धों से जैन-धर्म का व्यापक प्रचार हुआ. महावीर के व्यापक प्रभाव की सूचना इस बात से मिलती है कि उनके निर्वाण के समय काशी और कौशल के १८ गणराज्यों, ९ मल्लकों और ९ लिच्छिवियों ने मिलकर प्रकाशोत्सव किया था.[8] महावीर को मल्लराजा शस्तिपाल के प्रासाद में निर्वाण प्राप्त हुआ. इससे मल्लों पर भी उनका प्रभाव लक्षित होता है.

---

१. तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं। उत्तराध्ययन सूत्र १२।४३.

२. दर्शनपाहुड़ २७.

३. सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोकसंख्या २३.

४. उपर्युक्त श्लोक २२.

५. उपर्युक्त श्लोक २३.

६. हिन्दूसभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी-हिन्दी अनुवाद पृ० २२८.

७. भगवती सूत्र ४९.

८. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर ने अपने जीवनकाल में ही जैन-शासन को अधिक लोक प्रिय बनाने के लिए अपने प्रमुख ११ शिष्यों को गणधर नियुक्त किया. ये जैन-शासन के सर्वोच्च व्याख्याता थे. इन्होंने ९ गणों को जैनशासन का उपदेश दिया.

इन ११ गणधरों तथा महावीर स्वामी की वाणी का संकलन सिद्धान्त कहलाता है. महावीर के निर्वाण के उपरान्त जैनसंघ के प्रमुख सुधर्मा बने. इनके बाद जम्बू स्वामी गणप्रमुख बने. ३ गणप्रमुख और हुए. लगभग १५० वर्षों के सुदीर्घ काल में जैन संघ में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई. अन्तिम नन्दराजा के समय जैनसंघ के दो प्रमुख सम्भूतिविजय और भद्रबाहु हुए. इन दोनों ने जैन सिद्धान्तों का संकलन किया.

जैनसंघ की प्रारम्भिक सफलता का कारण समकालीन गणराज्यों में पनपने वाली गणभावना तो थी ही, साथ ही जैन आचार्यों का उदार व उदात्त व्यक्तित्व भी था. नैतिकता पर आश्रित गणव्यवस्था अधिक से अधिकतर रुचिकर होती गई थी. कालान्तर में जैनसंघ का कार्यक्षेत्र तो बढ़ता गया परन्तु सेवाभावी, उदात्तव्यक्तित्व वाले आचार्यों की संख्या कम होती गई. संघभेद के कारण विभिन्न सम्प्रदायों में स्पर्द्धा बढ़ती गई और प्रचारकार्य कम हो गया. गणराज्य समाप्त हो गए. मौर्य व गुप्त शासकों के युग में राजतन्त्र की सफलता देख कर गणों पर से लोकविश्वास उठता गया. जैनसंघ के लोगों में उद्देश्य गौण हो गया. जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर आध्यात्मिकगण की स्थापना महावीर ने की थी, उसी दृष्टिकोण से परिवर्तित रूप में विकसित होने वाले ब्राह्मणधर्म से सहयोग करने को जैनसंघ तैयार न था. यद्यपि हेमचन्द्र जैसे उदार विचारक अर्हत्, शिव, बुद्ध, ब्रह्मा व विष्णु में अभेद दर्शन करते थे.[1] जिनप्रभसूरि जैसे विद्वान् 'गायत्रीरहस्य' जैसे भाष्य लिखते थे, आदिजिन की पूजा के लिए वैदिकमंत्र[2] ग्रहण किये जा रहे थे. सरस्वती की श्रुतदेवी के नाम से उपासना की जा रही थी, परन्तु पारस्परिक स्पर्द्धा कटुता में बदलती जा रही थी. पहले श्रावक के रूप में कोई भी जैनमन्दिर में जा सकता था, परन्तु अब ब्राह्मण-धर्मावलम्बी 'न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' का नारा बुलन्द करने लगे. इन सब बातों को जैनसंघ की अवनति के कारणों के रूप में उपस्थित किया जा सकता है.

आधुनिक काल में भी जैनसंघ विभाजित है. अब जैन विद्वान् अपने आपको अहिन्दू कहने में गर्व अनुभव करते हैं. पिछली जनगणना में जैनों को हिन्दुओं से पृथक् लिखा गया है. महावीर के तपोमार्ग तथा आर्यमार्ग[3] को किन्हीं अनार्यपरम्पराओं का अवशेष सिद्ध किया जा रहा है. महावीर आर्यदर्शन से दूर रहने वाले अनार्यों[4] की निन्दा करते थे, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ में कोई भेद नहीं मानते थे.[5] उन्होंने अपने मार्ग को सत्पुरुष आर्यों द्वारा पूर्व व्याख्यात कहा है.[6] किन्तु विद्वान् पारस्परिक कटुता को जन्म देने वाली भेदकारी नीति से कब परिचित होंगे कहा नहीं जा सकता.

महावीर द्वारा प्रचारित परम्परा को 'पनपी और अवगति को प्राप्त हुई' इतना ही महत्त्व नहीं है. उससे विगत दो सहस्राब्दियों के भारत के सबसे बड़े लोकनायक आचार्य शंकर ने प्रेरणा लेकर, सारे भारत की एक इकाई के रूप में कल्पना करके आध्यात्मिक गणराज्य की भावना को और आगे बढ़ाया. उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना करके धार्मिक दृष्टि से भारत का संगठन किया. थोथे मतों को उखाड़ फेंका. आचार्य शंकर के इन प्रयत्नों का ही फल था कि एक सहस्राब्द के विदेशी शासन में भी भारत ने सांस्कृतिक दृष्टि से किसी न किसी रूप में अपने गौरव को सुरक्षित बनाए रक्खा. दीवारों में चुन जाने वाले, शिखा के पहले शिर कटा देने वाले वीरों को स्फूर्ति प्रदान करने का श्रेय शंकराचार्य की धार्मिक गणपरम्परा को है, और इसीलिए इसका श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से महावीर स्वामी को भी प्राप्त है. स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य को भी महावीर की आध्यात्मिक गणपरम्परा से प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी.

---

१. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः, सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

२. ओं चत्वारः शृंगा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रौति महादेवो मर्त्यं आवेशय स्वाहा—Jain Konography में पृ० ९६ पर प्रतिष्ठासारसंग्रह से उद्धृत.

३. सत्रकृतांगसूत्र १।३।४. ४. उपर्युक्त २।५।१८. ५. उपर्युक्त १।१६।१. ६. उपर्युक्त २।५।१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org